धार्मिक सहिष्णुता और जैन धर्म

लेखक

डॉ. सागरमल जैन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशक : प्राच्य विद्या पीठ, शाजापुर (म.प्र.)

धार्मिक सहिष्णुता और जैन धर्म

-डॉ. सागरमल जैन

धार्मिक सहिष्णुता - आज की आवश्यकता

आज का युग बौद्धिक विकास और वैज्ञानिक प्रगति का युग है। मनुष्य के बौद्धिक विकास ने उसकी तार्किकता को पैना किया है। आज मनुष्य प्रत्येक समस्या पर तार्किक दृष्टि से विचार करता है, किन्तु दुर्भाग्य यह हैं कि इस बौद्धिक विकास के बावजूद भी अंधविश्वास और रूढ़िवादिता बराबर कायम है तथा दूसरी ओर वैचारिक संघर्ष को अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया है। धार्मिक एवं राजनीतिक साम्प्रदायिकता आज जनता के मानस को उन्मादी बना रही है कहीं धर्म के नाम पर, कहीं राजनीतिक विचारधाराओं के नाम पर, कहीं धनी और निर्धन के नाम पर, कहीं जातिवाद के नाम पर, कहीं काले और गोरे के भेद को लेकर मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद की दीवारें खींची जा रही हैं। आज प्रत्येक धर्म-सम्प्रदाय, प्रत्येक राजनीतिक दल और प्रत्येक वर्ग अपने हितों की सुरक्षा के लिए दूसरे के अस्तित्व को समाप्त करने पर तुला हुआ ह। सब अपने को मानव-कल्याण का एकमात्र ठेकेदार मानकर अपनी सत्यता का दावा कर रहे हैं और दूसरे को भ्रान्त और भ्रष्ट बता रहे हैं। मनुष्य की असहिष्णुता की वृत्ति मनुष्य के मानस को उन्मादी बनाकर पारस्परिक घृणा, विद्वेष और बिखराव के बीज बो रही है। एक ओर हम प्रगति की बात करते हैं तो दूसरी ओर मनुष्य-मनुष्य के बीच दीवार खड़ी करते हैं। 'इकबाल' इसी बात को लेकर पूछते हैं -

फ़िर्केबन्दी है कहीं और कहीं जाते हैं।
क्या जमाने में पनपने की यही बाते हैं ?

यद्यपि वैज्ञानिक तकनीक से प्राप्त आवागमन के सुलभ साधनों ने आज विश्व की दूरी को कम कर दिया है, हमारा संसार सिमट रहा है, किन्तु आज मनुष्य-मनुष्य के बीच हृदय की दूरी कहीं अधिक (ज्यादा) हो रही है। वैयक्तिक स्वार्थलिप्सा के कारण मनुष्य एक दूसरे से कटता चला जा रहा है। आज विश्व का वातावरण तनावपूर्ण एवं विक्षुब्ध है। एक ओर इज़रायल और अरब में यहूदी और मुसलमान लड़ रहे हैं, तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूसरी ओर इस्लाम धर्म के ही दो सम्प्रदाय शिया और सुन्नी इराक और ईरान में लड़ रहे हैं। भारत में भी कहीं हिन्दू और मुसलमानों को, तो कहीं हिन्दू और सिखों को एक दूसरे के विरूद्ध लड़ने के लिए उभाड़ा जा रहा है। अफ्रीका में काले और गोरे का संघर्ष चल रहा है, तो साम्यवादी रूस और पूँजीवादी संयुक्त राज्य अमेरिका एक दूसरे को नेस्तनाबूद करने पर तुले हुए हैं। आज मानवता उस कगार पर आकर खड़ी हो गई है जहाँ से उसने यदि अपना रास्ता नहीं बदला तो उसका सर्वनाश निकट ह।
'इक़बाल' स्पष्ट शब्दों में हमें चेतावनी देते हुए कहते हैं -

अगर अब भी न समझोगे तो मिट जाओगे दुनिया से।
तुम्हारी दास्ताँ तक भी न होगी दास्तानों में ।।

विज्ञान और तकनीक की प्रगति के नाम पर हमने मानवजाति के लिए विनाश की चिता तैयार कर ली है। यदि मनुष्य की इस उन्मादी प्रवृत्ति पर कोई अंकुश नहीं लगा तो कोई भी छोटी सी घटना इस चिता को चिनगारी दे देगी और तब हम सब अपने हाथों तैयार की इस चिता में जलने को मजबूर हो जायगे। असहिष्णुता और वर्ग-विद्वेष –फिर चाहे वह धर्म के नाम पर हो, राजनीति के नाम पर हो, राष्ट्रीयता के नाम पर हो या साम्प्रदायिकता के नाम पर– हमें विनाश के गर्त की ओर ही लिये जा रहे हैं। आज की इस स्थिति के सम्बन्ध में उर्दू के शायर 'चकबस्त' ने ठीक ही कहा है–

मिटेगा दीन भी और आबरू भी जाएगी ।
तुम्हारे नाम से दुनिया को शर्म आएगी ।।

अत: आज एक ऐसे दृष्टिकोण की आवश्यकता है जो मानवता को दुराग्रह और मतान्धता से ऊपर उठाकर सत्य को समझने के लिए एक समग्र दृष्टि दे सके, ताकि वर्गीय हितों से ऊपर उठकर समग्र मानवता के कल्याण को प्राथमिकता दी जा सके।

धार्मिक मतान्धता क्यों ?

धर्म को अँग्रेजी में 'रिलीजन' (Religion) कहा जाता है। रिलीजन शब्द रि+लीजेर से बना है। इसका शाब्दिक अर्थ होता है–फिर से जोड़ देना। धर्म मनुष्य को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनुष्य से और आत्मा को परमात्मा से जोड़ने की कला है। धर्म का अवतरण मनुष्य को शाश्वत शान्ति और सुख देने के लिए हुआ है, किन्तु हमारी मतान्धता और उन्मादी वृत्ति के कारण धर्म के नाम पर मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद की दीवारें खड़ी की गयी और उसे एक दूसरे का प्रतिस्पर्धी बना दिया गया। मानव जाति के इतिहास में जितने युद्ध और संघर्ष हुए हैं, उनमें धार्मिक मतान्धता एक बहुत बड़ा कारण रही है। धर्म के नाम पर मनुष्य ने अनेक बार खून की होली खेली है और आज भी खेल रहा है। विश्व-इतिहास का अध्येता इस बात को भलीभाँति जानता है कि धार्मिक असहिष्णुता ने विश्व में जघन्य दुष्कृत्य कराये है। आश्चर्य तो यह है कि दमन, अत्याचार, नृशंसता और रक्त-प्लावन की इन घटनाओं को धर्म का जमा पहनाया गया और ऐसे युद्धों को धर्मयुद्ध कहकर मनुष्य को एक दूसरे के विरूद्ध उभाड़ा गया। शान्ति, सेवा और समन्वय का प्रतीक धर्म ही अशान्ति, तिरस्कार और वर्ग-विद्वेष का कारण बना।

यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए हि धर्म के नाम पर जो कुछ किया या कराया जाता है, वह सब धार्मिक नहीं होता। इन सबके पीछे वस्तुत: धर्म नहीं, धर्म के नाम पर पलने वाली व्यक्ति की स्वार्थपरता काम करती है। वस्तुत: कुछ लोग अपने क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति के लिए मनुष्यों को धर्म के नाम पर एक दूसरे के विरोध में खड़ा कर देते हैं। धर्म भावना-प्रधान हैं और भावनाओं को उभाड़ना सहज होता हैं। अत: धर्म ही एक ऐसा माध्यम है जिसके नाम पर मनुष्यों को एक दूसरे के विरूद्ध जल्दी उभाड़ा जा सकता है। इसीलिए मातान्धता, उन्मादी और स्वार्थी तत्त्वों ने धर्म को सदैव ही अपने हितों की पूर्ति का साधन बनाया है। जो धर्म मनुष्य को मनुष्य से जोड़ने के लिए था, उसी धर्म के नाम पर अपने से विरोधी धर्मवालों को उत्पीड़ित करने और उस पर अत्याचार करने के प्रयत्न हुए हैं और हो रहे हैं। किन्तु धर्म के नाम पर हिंसा, संघर्ष और वर्ग-विद्वेष की जो भावनाएँ उभाड़ी जा रही हैं, उसका कारण क्या धर्म है? वस्तुत: धर्म नहीं, अपितु धर्म का आवरण डालकर मानव की महत्वकांक्षा, उसका अंहकार और उसकी क्षुद्र स्वार्थपरता ही यह सब कुछ करवा रही है। यथार्थ में यह धर्म का नकाब डाले हुए अधर्म ही है।

धर्म के सारतत्त्व का ज्ञान-मतान्धता से मुक्ति का मार्ग

दुर्भाग्य यह है कि आज जनसामान्य– जिसे धर्म के नाम पर सहज ही उभाड़ा जाता है –धर्म के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ है, वह धर्म के मूल हार्द को नहीं समझ पाया ह। उसकी दृष्टि में कुछ कर्मकाण्ड और रीतिरिवाज ही धर्म है। हमारा दुर्भाग्य यह है कि हमारे तथाकथित धार्मिक नेताओं ने हमें धर्म के मूल हार्द से अनभिज्ञ रखकर, इन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रीतिरिवाजों और कर्मकाण्डों को ही धर्म कहकर समझाया है। वस्तुतः आज आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझे। आज मानव समाज के समक्ष धर्म के उस सारभूत तत्त्व को प्रस्तुत किये जाने की आवश्यकता है, जो सभी धर्मों में सामान्यतया उपस्थित है और उनकी मूलभूत एकता का सूचक है। आज धर्म के मूल हार्द और वास्तविक स्वरूप को समझे बिना हमारी धार्मिकता सुरक्षित नहीं रह सकती ह। यदि आज धर्म के नाम पर विभाजित होती हुई इस मानवता को पुनः जोड़ना है तो हमें धर्म के उन मूलभूत तत्त्वों को सामने लाना होगा, जिनके आधार पर इन टूटी हुई कड़ियों को पुनः जोड़ा जा सके।

धर्म का मर्म

यह सत्य है कि आज विश्व में अनेक धर्म प्रचलित हैं। किन्तु यदि हम गम्भीरतापूर्वक विचार करें तो इन विविध धर्मों का मूलभूत लक्ष्य है - मनुष्य को एक अच्छे मनुष्य के रूप में विकसित कर उसे परमात्म तत्त्व की ओर ले जाना। जब तक मनुष्य, मनुष्य नहीं बनता और उसकी यह मनुष्यता देवत्व की ओर अग्रसर नहीं होती, तब तक वह धार्मिक नहीं कहा जा सकता। यदि मनुष्य में मानवीय गुणों का विकास ही नहीं हुआ है तो वह किसी भी स्थिति में धार्मिक नहीं है।
'अमन' ने ठीक ही कहा है -

इन्सानियत से जिसने बशर को गिरा दिया।
या रब ! वह बन्दगी हुई या अबतरी हुई ॥

मानवता के बिना धार्मिकता असम्भव है। मानवता धार्मिकता का प्रथम चरण ह। मानवता का अर्थ है- मनुष्य में विवेक विकसित हो, वह अपने विचारों, भावनाओं और हितों पर संयम रख सके तथा अपने साथी प्राणियों के सुख-दुःख समझ सके। यदि यह सब उसमें नहीं है तो वह मनुष्य ही नहीं है, तो फिर उसके धार्मिक होने का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि कोई पशु धार्मिक या अधार्मिक नहीं होता, मनुष्य ही धार्मिक या अधार्मिक होता है। यदि मानवीय शरीर को धारण करने वाला व्यक्ति अपने पशुत्व से ऊपर नहीं उठ पाया है तो उसके धार्मिक होने का प्रश्न तो बहुत दूर की बात है। मानवीयता धार्मिकता की प्रथम सीढ़ी है। उसे पार किये बिना कोई धर्ममार्ग में प्रवेश नहीं कर सकता। मनुष्य का प्रथम धर्म मानवता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वस्तुत: यदि हम जैनधर्म की भाषा में धर्म को वस्तु का स्वभाव मानें, तो हमें समग्र चेतनसत्ता के मूल स्वभाव को ही धर्म कहना होगा। भगवती सूत्र में आत्मा का स्वभाव समता या समभाव कहा गया है। उसमें गणधर गौतम भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं कि आत्मा क्या हैं और आत्मा का साध्य क्या है ? प्रत्युत्तर में भगवान् कहते हैं - आत्मा सामायिक (समत्व-वृत्ति) रूप है और उस समत्वभाव को प्राप्त कर लेना ही आत्मा का साध्य है।[1] आचारांग[2] भी समभाव को ही धर्म कहता है। सभी धर्मों का सार समता तथा शान्ति है मनुष्य में निहित काम, क्रोध, अहंकार, लोभ और उनके जनक राग-द्वेष और तृष्णा को समाप्त करना ही सभी धार्मिक साधनाओं का मूलभूत लक्ष्य रहा है। इस सम्बन्ध में श्री सत्यनारायणजी गोयनका के निम्न विचार द्रष्टव्य हैं - 'क्रोध. ईर्ष्या, द्वेष आदि न हिन्दू हैं, न बौद्ध, न जैन, न पारसी, न मुस्लिम, न ईसाई। वैसे इनसे विमुक्त रहना भी न हिन्दू है न बौद्ध; न जैन है न पारसी; न मुस्लिम है न ईसाई। विकारों से विमुक्त रहना ही शुद्ध धर्म है। क्या शीलवान, समाधिवान और प्रज्ञावान होना केवल बौद्धों का ही धर्म है ? क्या वीतराग, वीतद्वेष और वीतमोह होना जैनों का ही धर्म है ? क्या स्थितप्रज्ञ, अनासक्त, जीवनमुक्त होना हिन्दुओं का ही धर्म है ? धर्म की इस शुद्धता को समझें और उसे धारण करें। (धर्म के क्षेत्र में)निस्सार छिलकों का अवमूल्यन हो, उन्मूलन हो; शुद्धसार का मूल्यांकन हो, प्रतिष्ठापन हो।[3] जब यह स्थिति आयेगी, धार्मिक सहिष्णुता सहज ही प्रकट होगी।

साधनागत विविधता - असहिष्णुता का आधार नहीं

तृष्णा, राग-द्वेष और अहंकार अधर्म के बीज हैं। इनसे मानसिक और सामाजिक समभाव भंग होता है। अत: इनके निराकरण को सभी धार्मिक साधना पद्धतियाँ अपना लक्ष्य बनाती है, किन्तु मनुष्य का अहंकार, मनुष्य का ममत्व कैसे समाप्त हो, उसकी तृष्णा या आसक्ति का उच्छेद कैसे हो- इस साधनात्मक पक्ष को लेकर ही विचार-भेद प्रारम्भ होता है। कोई परमात्मा या ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण में ही आसक्ति, ममत्व और अहंकार के विसर्जन का उपाय देखता है तो कोई उसके लिए जगत् की दु:खमयता, पदार्थों की क्षणिकता और अनात्मता का उपदेश देता है, तो कोई उस आसक्ति या रागभाव की विमुक्ति के लिए आत्म और अनात्म अर्थात स्व-पर के विवेक को धार्मिक साधना का प्रमुख अंग मानता है। वस्तुत: यह साधनात्मक भेद ही धर्म की अनेकता का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कारण है। किन्तु यह अनेकता धार्मिक असहिष्णुता या विरोध का कारण नहीं बन सकती। आचार्य हरिभद्र ने योगदृष्टिसमुच्चय में धार्मिक साधना की विविधताओं का सुन्दर विश्लेषण प्रस्तुत किया है। वे लिखते हैं -

यद्वा तत्तन्नयापेक्षा तत्कालादिनियोगतः ।
ऋषिभ्यो देशना चित्रा तन्मूलैषापि तत्त्वतः ॥[4]

अर्थात् प्रत्येक ऋषि अपने देश, काल और परिस्थिति के आधार पर भिन्न-भिन्न धर्ममार्गों का प्रतिपादन करते हैं। देश और कालगत विविधताएँ तथा साधकों की रूचि और स्वभावगत विविधताएँ धार्मिक साधनाओं की विविधताओं का आधार है, किन्तु इस विविधता को धार्मिक असहिष्णुता का कारण नहीं बनने देना चाहिए। जिस प्रकार एक ही नगर को जाने वाले विविध मार्ग परस्पर भिन्न-भिन्न दिशाओं में स्थित होकर भी विरोधी नहीं कहे जाते हैं; एक ही केन्द्र को योजित होने वाली परिधि से खींची गयी विविध रेखाएँ चाहें बाह्य रूप से विरोधी दिखाई दे, किन्तु यथार्थतः उनमें कोई विरोध नहीं होता है; उसी प्रकार परस्पर भिन्न-भिन्न आचार-विचार वाले धर्मकर्म भी वस्तुतः विरोधी नहीं होते। यह एक गणितीय सत्य है कि एक केन्द्र से योजित होने वाली परिधि से खींची गयी अनेक रेखएँ एक-दूसरे को काटने की क्षमता नहीं रखती हैं; क्योंकि उन सबका साध्य एक ही होता है। वस्तुतः उनमें एक-दूसरे को काटने की शक्ति तभी आती है जब वे अपने केन्द्र का परित्याग कर देती हैं। यही बात धर्म के सम्बन्ध में भी सत्य है। एक ही साध्य की ओर उन्मुख बाहर से परस्पर विरोधी दिखाई देने वाले अनेक साधना मार्ग तत्त्वतः विरोधी नहीं होते है। यदि प्रत्येक धार्मिक साधक अपने अहंकार, राग-द्वेष और तृष्णा की प्रवृत्तियों को समाप्त करने के लिए, अपने काम, क्रोध और लोभ के निराकरण के लिए, अपने अहंकार और अस्मिता के विसर्जन के लिए साधनारत है, तो फिर उसकी साधना पद्धति चाहे जो हो, वह दूसरी साधना पद्धतियों का न तो विरोधी होगा और न ही असहिष्णु। यदि आर्थिक जीवन में साध्यरूपी अनेकता रहे तो भी वह संघर्ष का कारण नहीं बन सकती। वस्तुतः यहाँ हमें यह विचार करना है कि धर्म और समाज में धार्मिक असहिष्णुता का जन्म क्यों और कैसे होता है ?

वस्तुतः जब यह मान लिया जाता है कि हमारी एकमात्र साधना पद्धति ही व्यक्ति को अन्तिम साध्य तक पहुँचा सकती है तभी धार्मिक असहिष्णुता का जन्म होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसके स्थान पर यदि हम यह स्वीकार कर ले कि सभी साधना पद्धतियाँ साध्य तक पहुँचा सकती हैं, तो धार्मिक संघर्षो का क्षेत्र सीमित हो जाता है। देश और कालगत विविधताएँ तथा व्यक्ति की अपनी कृति और योग्यता आदि ऐसे तत्त्व हैं, जिनके कारण साधनागत विविधताओं का होना स्वभाविक है। वस्तुतः जिससे व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास होता है, वे आचार के बाह्य विधि-निषेध या बाह्य औपचारिकताएँ या क्रियाकाण्ड नहीं, मूलतः साधक की भावना या जीवन-दृष्टि है। प्राचीनतम जैन आगम आचारांग सूत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि-

जे आसवा ते परिस्सवा, जे परिस्सवा ते आसवा।[5]

जो आस्रव अर्थात् बन्धन के कारण हैं, वे ही परिस्रव अर्थात् मुक्ति के कारण हैं, जो मुक्ति के कारण है, वे ही बन्धन के कारण बन सकते हैं। अनेक बार ऐसा होता है कि बाह्य रूप में हम जिसे अनैतिक और अधार्मिक कहते हैं, वह देश, काल, व्यक्ति और परिस्थितियों के आधार पर नैतिक और धार्मिक हो जाता है। धार्मिक जीवन में साधना का बाह्य कलेवर इतना महत्त्वपूर्ण नहीं होता जितना उसके मूल में रही हुई व्यक्ति की भावनाएँ होती हैं। बाह्य रूप से किसी युवती की परिचर्या करते हुए एक व्यक्ति अपनी मनोभूमिका के आधार पर धार्मिक हो सकता हैं, तो दूसरा अधार्मिक। वस्तुतः परिचर्या करते समय परिचर्या की अपेक्षा भी जो अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, वह उस परिचर्या के मूल में निहित प्रयोजन, प्रेरक या मनोभूमिका होती है। एक व्यक्ति निष्काम भावना से किसी की सेवा करता है, तो दूसरा व्यक्ति अपनी वासनाओं अथवा अपने क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति के लिए किसी की सेवा करता है। बाहर से दोनों सेवाएँ एक हैं किन्तु उनमें एक नैतिक और धार्मिक है, तो दूसरी अनैतिक और अधार्मिक। हम देखते हैं कि अनेकानेक लोग लौकिक एषणाओं की पूर्ति के लिए प्रभु-भक्ति और सेवा करते हैं किन्तु उनकी वह सेवा धर्म का कारण न होकर अधर्म का कारण होती है। अतः साधनागत बाह्य विभिन्नताओं को न तो धार्मिकता का सर्वस्व मानना चाहिए और न उन पर इतना अधिक बल दिया जाना चाहिए, जिससे पारस्परिक विभेद और भिन्नता की खाई और गहरी हो। वस्तुतः जब तक देश और कालगत भिन्नताएँ हैं, जब तक व्यक्ति की रूचि या स्वभावगत भिन्नताएँ हैं, तब तक साधनागत विभिन्नताएँ स्वाभाविक ही हैं। आचार्य हरिभद्र अपने ग्रन्थ योगदृष्टि समुच्चय में कहते हैं -

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चित्रा तु देशनैतेषां स्याद् विनेयानुगुण्यतः ।
यस्मादेते महात्मनो भवव्याधि भिषग्वरा : ॥[6]

अर्थात् जिस प्रकार एक अच्छा वैद्य रोगी की प्रकृति, ऋतु आदि को ध्यान में रखकर एक ही रोग के लिए दो व्यक्तियों को अलग-अलग औषधी प्रदान करता है, उसी प्रकार धर्ममार्ग के उपदेष्टा ऋषिगण भी भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले व्यक्तियों के लिए अलग-अलग साधनाविधि प्रस्तुत करते हैं। देश, काल और रूचिगत वैचित्र्य धार्मिक साधना पद्धतियों की विभिन्नता का आधार है। वह स्वभाविक है, अतः उसें अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता है। धर्मक्षेत्र में साधनागत विविधताएँ सदैव रही हैं और रहेंगी, किन्तु उन्हें विवाद का आधार नहीं बनाया जाना चाहिए।[7] हमें प्रत्येक साधना पद्धति की उपयोगिता और अनुपयोगिता का मूल्यांकन उन परिस्थितियों में करना चाहिए जिसमें उनका जन्म होता है। उदाहरण के रूप में, मूर्तिपूजा का विधान और मूर्तिपूजा का निषेध दो भिन्न देशगत और कालगत परिस्थितियों की देन है और उनके पीछे विशिष्ट उद्देश्य रहे हुए हैं। यदि हम उन संदर्भों में उनका मूल्यांकन करते हैं, तो इन दो विरोधी साधना पद्धतियों में भी हमें कोई विरोध नजर नहीं आयेगा। सभी धार्मिक साधना पद्धतियों का एक लक्ष्य होते हुए भी उनमें देश, काल, व्यक्ति और परिस्थिति के कारण साधनागत विभिन्नताएँ आई हैं। उदाहरण के रूप में, हिन्दू धर्म और इस्लाम दोनों में उपासना के पूर्व शारीरिक शुद्धि का विधान है। फिर भी दोनों की शारीरिक शुद्धि की प्रक्रिया भिन्न-भिन्न हैं। मुसलमान अपनी शारीरिक शुद्धि इस प्रकार से करता है कि उसमें जल की अत्यल्प मात्रा का व्यय हो, वह हाथ और मुँह को नीचे से उपर की ओर धोता हैं क्योकि इसमें पानी की मात्रा कम खर्च होती है। इसके विपरीत हिन्दू अपने हाथ और मुँह उपर से नीचे की ओर धोता है। इसमें जल की मात्रा अधिक खर्च होती है। शारीरिक शुद्धि का लक्ष्य समान होते हुए भी अरब देशों में जल का अभाव होने के कारण एक पद्धति अपनाई गई, तो भारत में जल की बहुलता होने के कारण दूसरी पद्धति अपनाई गयी। अतः आचार के इन बाहरी रूपों को लेकर धार्मिकता के क्षेत्र में जो विवाद चलाया जाता है, वह उचित नहीं है। चाहे प्रश्न मूर्तिपूजा का हो या अन्य कोई, हम देखते हैं कि उन सभी के मूल में कहीं न कहीं देश, काल और व्यक्ति के रूचिगत वैचित्र्य का आधार होता है। इस्लाम ने चाहे कितना ही बुतपरस्ती का विरोध किया हो, किन्तु मुहर्रम, कब्र-पूजा आदि के नाम पर प्रकारान्तर से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसमें मूर्तिपूजा प्रविष्ट हो ही गयी है। इसी प्रकार इस्लाम एवं अन्य परिस्थितियों के प्रभाव से हिन्दू और जैन धर्म में अमूर्ति पूजक सम्प्रदायों का विकास हुआ। अत: धार्मिक जीवन की बाह्य आचार एवं रीति-रिवाज़ सम्बन्धी दैशिक, कालिक और वैयक्तिक भिन्नताओं को धर्म का मूलाधार न मानकर इन भिन्नताओं के प्रति एक उदार और व्यापक दृष्टिकोण रखना आवश्यक है। हमें इन सभी विभिन्नताओं को उनके उद्भव की मूलभूत परिस्थितियों में समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

शास्त्र की सत्यता का प्रश्न

धार्मिकता के क्षेत्र में अनेक बार यह विवाद भी प्रमुख हो जाता है कि हमारा धर्मशास्त्र ही सच्चा धर्मशास्त्र है और दूसरों का धर्मशास्त्र सच्चा और प्रमाणिक नहीं है। इस विषय में प्रथम तो यह जान लेना चाहिए कि धर्मशास्त्र का मूल स्त्रोत तो धर्म-प्रर्वतक के उपदेश ही होते हैं और सामान्यतया प्राचीन धर्मों में वे मौखिक ही रहे हैं। जिन्होंने उन्हें लिखित रूप दिया, वे देश और कालगत परिस्थितियों से सर्वथा अप्रभावित रहें हों, यह कहना बड़ा कठिन हैं। महावीर के उपदेश उनके परिनिर्वाण के एक हजार वर्ष बाद लिखे गये - क्या इस कालावधि में उसमें कुछ घटाव- बढ़ाव नहीं हुआ होगा? न केवल यह प्रश्न जैन शास्त्रों का है अपितु हिन्दू और बौद्धधर्म के शास्त्रों का भी है। दुर्भाग्य से किसी भी धर्म का धर्मशास्त्र, उसके उपदेष्टा के जीवन काल में नहीं लिखा गया। न महावीर के जीवन में आगम लिखे गये, न बुद्ध के जीवन में त्रिपिटक लिखे गये, न ईसा के जीवन में बाइबिल और न मुहम्मद के जीवन में कुरान। पुन: यदि प्रत्येक धर्मशास्त्र में से दैशिक,कालिक और वैयक्तिक तथ्यों को अलग कर धर्म के उत्स या मूल तत्व को देखा जाये, तो उनमें बहुत बड़ी भिन्नता भी दृष्टिगोचर नहीं होती है। आचार के सामान्य नियम-हत्या मत करो, झूठ मत बोलो, चोरी मत करो, व्यभिचार मत करो, नशीले पदार्थों का सेवन मत करो, संचयवृत्ति से दूर रहो और अपने धन का दीन-दुखियों मे उपयोग करो- ये सब बातें सभी धर्मों में समान रूप से प्रतिपादित हैं। लेकिन दुर्भाग्य यह है कि हम इन मूलभूत आधार स्तम्भों को छोड़कर उन छोटी-छोटी बातों को ही अधिक पकडते हैं, जिनसे पारस्परिक भेद की खाई और गहरी होती है।

जैनों के सामने भी शास्त्र की सत्यता और असत्यता का प्रश्न आया था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किसी सीमा तक उन्होंने सम्यक्-श्रुत और मिथ्या-श्रुत के नाम पर तत्कालीन शास्त्रों का विभाजन भी कर लिया था, किन्तु फिर भी उनकी दृष्टि संकुचित और अनुदार नहीं रही। उन्होंने ईमानदारीपूर्वक इस बात को स्वीकार कर लिया कि जो सम्यक्-श्रुत है, वह मिथ्या-श्रुत भी हो सकता है और जो मिथ्या-श्रुत है वह सम्यक्-श्रुत भी हो सकता हैं। श्रुति या शास्त्र का सम्यक् होना या मिथ्या होना शास्त्र के शब्दों पर नहीं, अपितु उनके अध्येता और व्याख्याता पर निर्भर करता है। जैन आचार्य स्पष्ट रूप से कहते हैं कि 'एक मिथ्यादृष्टि के लिए सम्यक्-श्रुत भी मिथ्या-श्रुत हो जाता है और एक सम्यग्दृष्टि के लिए मिथ्या-श्रुत भी सम्यक् श्रुत हो जाता है। एक सम्यक्-दृष्टि व्यक्ति मिथ्या-श्रुत में से भी अच्छाई और सारतत्व ग्रहण कर लेता है, तो दूसरी ओर एक मिथ्यादृष्टि व्यक्ति सम्यक्-श्रुत में भी बुराई और कमियाँ देख सकता है।[8] अत: शास्त्र के सम्यक् और मिथ्या होने का प्रश्न मूलत: व्यक्ति के दृष्टिकोण पर निर्भर ह। ग्रन्थ और इनमें लिखे शब्द तो जड़ होते हैं, उनको व्याख्यायित करने वाला तो व्यक्ति का मनस् है। अत: श्रुत सम्यक् और मिथ्या नहीं होता है, सम्यक् या मिथ्या होता है उनसे अर्थ-बोध प्राप्त करने वाले व्यक्ति का मानसिक दृष्टिकोण। एक व्यक्ति सुन्दर में भी असुन्दर देखता है तो दूसरा व्यक्ति असुन्दर में भी सुन्दर देखता है। अत: यह विवाद निरर्थक और अनुपयोगी है कि हमारा शास्त्र ही सम्यक्-शास्त्र है और दूसरे का शास्त्र मिथ्या-शास्त्र है। हम शास्त्र को जीवन से नहीं जोड़ते है अपितु उसे अपने-अपने ढंग से व्याख्यायित करके उस पर विचार-भेद के आधार पर विवाद करने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु शास्त्र को जब भी व्याख्यायित किया जाता है, वह देश, काल और वैयक्तिक रूचि भेद से अप्रभावित हुए बिना नहीं रहता। एक ही गीता को शंकर और रामानुज दो अलग-अलग दृष्टि से व्याख्यायित कर सकते हैं। वही गीता तिलक, अरविंद और राधाकृष्णन् के लिए अलग-अलग अर्थ की बोधक हो सकती है। अत: शास्त्र के नाम पर धार्मिक क्षेत्र में विवाद और असहिष्णुता को बढ़ावा देना उचित नहीं है। शास्त्र और शब्द जड़ है उससे जो अर्थबोध किया जाता हैं, वही महत्वपूर्ण है और यह अर्थबोध की प्रक्रिया श्रोता या पाठक की दृष्टि पर निर्भर करती है; अत: महत्त्व दृष्टि का है, शास्त्र के निरे शब्दों का नहीं है। यदि दृष्टि उदार और व्यापक हो, हममें नीर-क्षीर-विवेक हो और शास्त्र के वचनों को हम उस परिपेक्ष्य में समझने का प्रयास करें जिसमें वे कहे गये हैं, तो हमारे विवाद का क्षेत्र सीमित हो जायेगा। जैनाचार्यों ने नन्दीसूत्र में जो यह कहा कि सम्यक्-श्रुत मिथ्यादृष्टि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के लिए मिथ्या-श्रुत हो जाता है और मिथ्याश्रुत भी सम्यक् दृष्टि के लिए सम्यक्-श्रुत होता हैं-उसका मूल आशय यही है।

धार्मिक असहिष्णुता का बीज-रागात्मकता

धार्मिक असहिष्णुता का बीज तभी वपित होता है जब हम अपने धर्म या साधना-पद्धति को ही एकमात्र और अन्तिम मानने लगते हैं तथा अपने धर्म-गुरू को ही एकमात्र सत्य का द्रष्टा मान लेते हैं, तो यह अवधारणा ही धर्मिक वैमनस्यता का मूल कारण बन जाती है।

वस्तुत: जब व्यक्ति की रागात्मकता धर्मप्रवर्तक, धर्ममार्ग और धर्मशास्त्र के साथ जुड़ती है, तो धार्मिक कदाग्रहों और असहिष्णुता का जन्म होता है। जब हम अपने धर्म-प्रवर्तक को ही सत्य का एकमात्र द्रष्टा और उपदेशक मान लेते हैं, तो हमारे मन में दूसरे धर्मप्रवर्तकों के प्रति तिरस्कार की धारणा विकसित होने लगती है। राग का तत्त्व जहाँ एक ओर व्यक्ति को किसी से जोड़ता है, वहीं दूसरी ओर वह उसे कहीं से तोड़ता भी है। जैन परम्परा में धर्म के प्रति इस एकान्तिक रागात्मकता को दृष्टिराग कहा गया है और इस दृष्टिराग को व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास में बाधक भी माना गया ह। भगवान् महावीर के प्रथम शिष्य एवं गणधर इन्द्रभूति गौतम को, जब तक भगवान् महावीर जीवित रहे, कैवल्य (सर्वज्ञत्व) की प्राप्ति नहीं हो सकी, वे वीतरागता को उपलब्ध नहीं कर पाये। आखिर ऐसा क्यों हुआ ? वह कौन सा तत्त्व था जो गौतम की वीतरागता और सर्वज्ञता की प्राप्ति में बाधक बन रहा था ? प्राचीन जैन साहित्य में यह उल्लिखित है कि एक बार इन्द्रभूति गौतम 500 शिष्यों को दीक्षित कर भगवान् महावीर के पास ला रहे थे। महावीर के पास पहुँचते-पहुँचते उनके वे सभी शिष्य वीतराग और सर्वज्ञ हो चुके थे। गौतम को इस घटना से एक मानसिक खिन्नता हुई। वे विचार करने लगे कि जहाँ मेरे द्वारा दीक्षित मेरे शिष्य वीतरागता और सर्वज्ञता को उपलब्ध कर रहे हैं वहाँ मैं अभी भी इसको प्राप्त नहीं कर पा रहा हूँ। उन्होंने अपनी इस समस्या को भगवान् महावीर के सामने प्रस्तुत किया। गौतम पूछते हैं- हे भगवान ! ऐसा कौन सा कारण है, जो मेरी सर्वज्ञता या वीतरागता की प्राप्ति में बाधक बन रहा है ? महावीर ने उत्तर दिया - हे गौतम! तुम्हारा मेरे प्रति जो रागभाव है वही तुम्हारी सर्वज्ञता और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वीतरागता मे बाधक है।[9] जब तीर्थंकर महावीर के प्रति रहा हुआ राग भाव भी वीतरागता में बाधक हो सकता है तो फिर सामान्य धर्मगुरू और धर्मशास्त्र के प्रति हमारी रागात्मकता क्यों नहीं हमारे आध्यात्मिक विकास में बाधक होगी ? यद्यपि जैन परम्परा धर्मगुरू और धर्मशास्त्र के प्रति ऐसी रागात्मकता को प्रशस्त-राग संज्ञा देती है किन्तु वह यह मानती हैं कि यह प्रशस्त-राग भी हमारे बन्धन का कारण हैं। राग राग हैं, फिर चाहे वह महावीर के प्रति क्यों न हो ? जैन परम्परा का कहना है कि आाध्यात्मिक विकास की सर्वोच्च अवस्था को प्राप्त करने के लिए हमें इस रागात्मकता से भी ऊपर उठना होगा।

जैन कर्मसिद्धान्त में मोह कर्म को बन्धन का प्रधान कारण माना गया हैं यह मोह दो प्रकार का है - (1). दर्शनमोह और (2). चारित्रमोह। (2). जैन आचार्यों ने दर्शन मोह को भी तीन भागों में बाँटा है- सम्यक्त्व मोह, मिथ्यात्वमोह और मिश्रमोह।[10] मिथ्यात्व मोह का अर्थ तो सहज ही हमें समझ में आ जाता है, मिथ्यात्व मोह का अर्थ है- मिथ्या सिद्धान्तों और विश्वासों का आग्रह अर्थात् गलत सिद्धान्तों और गलत आस्थाओं में चिपके रहना, किन्तु सम्यक्त्व मोह का अर्थ सामान्यतया हमारी समझ में नहीं आता है। सामान्यतया सम्यक्त्व मोह का अर्थ सम्यक्त्व का मोह अर्थात् सम्यक्त्व का आवरण- ऐसा किया जाता है किन्तु ऐसी स्थिति में वह भी मिथ्यात्व का ही सूचक होता है। वस्तुत: सम्यक्त्व-मोह का अर्थ है- दृष्टिराग अर्थात् अपनी धार्मिक मान्यताओं और विश्वासों को ही एकमात्र सत्य समझना और अपने से विरोधी मान्यताओं और विश्वासों को असत्य मानना। जैन दार्शनिक यह मानते हैं कि आध्यात्मिक पूर्णता या वीतरागता की उपलब्धि के लिए जहाँ मिथ्यात्व मोह का विनाश आवश्यक है वहाँ सम्यक्त्व मोह अर्थात् दृष्टिराग से ऊपर उठना भी आवश्यक है। न केवल जैन परम्परा में अपितु बौद्ध परम्परा में भी भगवान् बुद्ध के अन्तेवासी शिष्य आनन्द के सम्बन्ध में भी यह स्थिति है। आनन्द भी बुद्ध के जीवन काल में अर्हत् अवस्था को प्राप्त नहीं कर पाये। बुद्ध के प्रति उनकी रागात्मकता ही उनके अर्हत् बनने में बाधक रही। चाहे वह इन्द्रभूति गौतम हो या आनन्द हो, यदि दृष्टिराग क्षीण नहीं होता है, तो अर्हत् अवस्था की प्राप्ति सम्भव नहीं है। वीतरागता की उपलब्धि के लिए अपने धर्म और धर्मगुरू के प्रति भी रागभाव का त्याग करना होगा।

धार्मिक मतान्धता को कम करने का उपाय- गुणोपासना

धार्मिक असहिष्णुता के कारणों में एक कारण यह है कि हम गुणों के स्थान पर व्यक्तियों से जुड़ने का प्रयास करते हैं। जब हमारी आस्था का केन्द्र या उपास्य आध्यात्मिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं नैतिक विकास की अवस्था विशेष न होकर व्यक्ति विशेष बन जाता हैं, तो फिर स्वभाविक रूप से ही आग्रह का घेरा खड़ा हो जाता है। हम मानने यह लगते हैं कि महावीर हमारे हैं, बुद्ध हमारे नहीं। राम हमारे उपास्य हैं, कृष्ण या शिव हमारे उपास्य नहीं हैं।

अत: यदि हम व्यक्ति के स्थान पर आध्यात्मिक विकास की भूमिका विशेष को अपना उपास्य बनायें तो सम्भवत: हमारे आग्रह और मतभेद कम हो सकते हैं। इस सम्बन्ध में जैनों का दृष्टिकोण प्रारम्भ से ही उदार रहा है। जैन-परम्परा में निम्न नमस्कार मन्त्र को परम-पवित्र माना गया है-

नमो अरहंताणं। नमो सिद्धाणं।
नमो आयरियाणं। नमो उवज्झायाणं।
नमो लोए सव्वसाहूणं।

-भगवती 1/1

प्रत्येक जैन के लिए इसका पाठ आवश्यक है, किन्तु इसमें किसी व्यक्ति के नाम का उल्लेख नहीं है। इसमें जिन पाँच पदों की वन्दना की जाती है वे व्यक्तिवाचक न होकर गुणवाचक हैं। अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु व्यक्ति नहीं हैं, वे आध्यात्मिक और नैतिक विकास की विभिन्न भूमिकाओं के सूचक हैं। प्राचीन जैनाचार्यों की दृष्टि कितनी उदार थी, कि उन्होंने इन पाँचों पदों में किसी व्यक्ति का नाम नहीं जोड़ा। यही कारण हैं कि आज जैनों में अनेक सम्प्रदायगत मतभेद होते हुए भी नमस्कार मंत्र सर्वमान्य बना हुआ है। यदि उसमें कहीं व्यक्तियों के नाम जोड़ दिये जाते, तो सम्भवत: आज तक उसका स्वरूप न जाने कितना परिवर्तित और विकृत हो गया होता। नमस्कार महामंत्र जैनों की धार्मिक उदारता और सहिष्णुता का सबसे महत्वपूर्ण प्रमाण है। उसमें भी 'नमो लोए सव्व साहूणं' यह पद तो धार्मिक उदारता का सर्वोच्च शिखर कहा जा सकता हैं। इसमें साधक कहता हैं कि मैं लोक के सभी साधुओं को नमस्कार करता हैं। वस्तुत: जिसमें भी साधुत्व या मुनित्व हैं वह वन्दनीय हैं। हमें साधुत्व को जैन या बौद्ध आदि किसी धर्म या किसी सम्प्रदाय के साथ न जोड़कर गुणों के साथ जोड़ना चाहिए। साधुत्व, मुनित्व या श्रमणत्व वेश या व्यक्ति नहीं हैं, वरन् एक आध्यात्मिक विकास की भूमिका है, एक स्थिति है वह कहीं भी और किसी भी व्यक्ति में हो सकती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया हैं कि -

न वि मुंडिएण समणो, न ओंकारेण बंभणो।
न मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण न तावसो॥
समयाए समणो होइ, बंभचेरेण बंभणो।
नाणेण य मुणी होइ, तवेण होइ तावसो॥[11]

सिर मुंडा लेने से कोई श्रमण नहीं होता, ओंकार का जाप करने से कोई ब्राह्मण नहीं होता, जंगल में रहने से कोई मुनि नहीं होता और कुश-चीवर धारण करने से कोई तापस नहीं होता। समता से श्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि और तपस्या से तापस कहलाता है।

धर्म के क्षेत्र में अपने विरोधी पर नास्तिक, मिथ्यादृष्टि, काफिर आदि का आक्षेपण हमने बहुत किया हैं। हम सामान्यतया यह मान लेते हैं कि हमारे धर्म और दर्शन में विश्वास रखने वाला व्यक्ति ही आस्तिक, सम्यग्दृष्टि और ईमानवाला हैं और दूसरे धर्म और दर्शन में विश्वास रखने वाला नास्तिक है, मिथ्यादृष्टि है, काफ़िर है, वस्तुतः इन सबके मूल में दृष्टि यह हैं-मै ही सच्चा हूँ और मेरा विरोधी झूठा। यही दृष्टिकोण असहिष्णुता और धार्मिक संघर्षो का मूलभूत कारण है। हमारा दुर्भाग्य इससे भी अधिक है, वह यह कि हम न केवल दूसरों को नास्तिक, मिथ्यादृष्टि या काफिर समझते हैं, अपितु उन्हें सम्यग्दृष्टि और ईमानवाले बनाने की जिम्मेदारी भी अपने सिर पर ओढ़ लेते हैं। हम यह मान लेते हैं कि दुनियाँ को सच्चे रास्ते पर लगाने का ठेका हमने ही ले रखा है। हम मानते हैं कि मुक्ति हमारे धर्म और धर्मगुरू की शरण में ही होगी। इसी एक अंधविश्वास या मिथ्या धारणा ने दुनिया में अनेक बार जिहाद या धर्मयुद्ध कराये हैं। दूसरों को आस्तिक, सम्यक्दृष्टि और ईमानवाला बनाने के लिए हमने अनेक बार खून की होलियाँ खेली हैं। पहले तो अपने से भिन्न धर्म या सम्प्रदाय वाले को नास्तिकता या कुफ्र का फतवा दे देना और फिर उसके सुधारने की जिम्मेदारी अपने सिर पर ओढ़ लेना, एक दोहरी मूर्खता है। दुनिया को अपने ही धर्म या सम्प्रदाय के रंग में रंगने का स्वप्न न केवल दिवास्वप्न हैं, अपितु एक दुःस्वप्न भी है।

महावीर ने सूत्रकृतांग में बहुत ही स्पष्ट रूप से कहा है -

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सयं सयं पसंसंता, गरहंता परं वयं।
जे उ तत्थ विउस्संति, संसारे ते विउस्सिया ॥[12]

अर्थात् जो लोग अपने-अपने मत की प्रशंसा और दूसरे मत की निन्दा करते हैं तथा दूसरों के प्रति द्वेष का भाव रखते हैं वे संसार में परिभ्रमण करते हैं। जैन परम्परा का यह विश्वास रहा हैं कि सत्य का सूर्य सभी के आँगन को प्रकाशित कर सकता है। उसकी किरणें सर्वत्र विकीर्ण हो सकती है। जैनों के अनुसार वस्तुत: मिथ्यात्व/असत्यता तभी उत्पन्न होती है जब हम अपने को ही एकमात्र सत्य और अपने विरोधी को असत्य मान लेते हैं। जैन आगम साहित्य में मिथ्यात्व के जो विविध रूप बताये गये हैं, उनमें एकान्त और आग्रह को भी मिथ्यात्व कहा गया है। कोई भी कथन जब वह अपने विरोधी के कथन का एकान्तरूप से निषेधक होता है, मिथ्या हो जाता है और जब उन्हीं मिथ्या कहे जानेवाले कथनों की सापेक्षिक सत्यता को स्वीकार कर लिया जाता है तो वे सत्य बन जाते हैं। जैन आचार्यों ने जैनधर्म को मिथ्यामतसमूह कहा है। आचार्य सिद्धसेन सन्मतितर्क प्रकरण में कहते हैं -

भद्दं मिच्छादंसण समूहमइयस्स अमयसारस्स।
जिणवयणस्स भगवओ संविग्ग सुहाहिगम्मस्स ॥[13]

अर्थात् 'मिथ्यादर्शनसमूहरूप अमृतरस प्रदायी और मुमुक्षुजनों को सहज समझ में आनेवाले जिनवचन का कल्याण हो।' यहाँ जिनधर्म को 'मिथ्या-दर्शनसमूह' कहने का तात्पर्य है कि वह अपने विरोधी मतों की भी सत्यता को स्वीकार करता है। जैनधर्म को मिथ्या-मतसमूह कहना सिद्धसेन की विशालहृदयता का भी परिचायक है। वस्तुत: जैनधर्म में यह माना गया है कि सभी धर्ममार्ग देश, काल और वैयक्तिक- रूचि-वैभिन्य के कारण भिन्न-भिन्न होते हैं, किन्तु वे सभी किसी दृष्टिकोण से सत्य भी होते हैं।

मुक्ति का द्वार : सभी के लिए उद्घाटित

वस्तुत: धार्मिक असहिष्णुता और धार्मिक संघर्षों का एक कारण यह भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होंता है कि हम यह मान लेते है कि मुक्ति केवल हमारे धर्म में विश्वास करने से या हमारी साधना-पद्धति को अपनाने से ही सम्भव है या प्राप्त हो सकती है। ऐसी स्थिति में हम इसके साथ-साथ यह भी मान लेते हैं कि दूसरे धर्म और विश्वासों के लोग मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकते हैं,किन्तु यह मान्यता एक भ्रान्त आधार पर खड़ी है, वस्तुतः दुःख या बन्धन के कारणों का उच्छेद करने पर कोई भी व्यक्ति मुक्ति का अधिकारी हो सकता हैं, इस सम्बन्ध में जैनों का दृष्टिकोण सदैव ही उदार रहा है। जैनधर्म यह मानता है कि जो भी व्यक्ति बन्धन के मूलभूत कारण- राग द्वेष और मोह का प्रहाण कर सकेगा, वह मुक्ति को प्राप्त कर सकता है। ऐसा नहीं हैं कि केवल जैन ही मोक्ष को प्राप्त करेंगे और दूसरे लोग मोक्ष को प्राप्त नहीं करेंगे। उत्तराध्ययनसूत्र में, जो कि जैन परम्परा का एक प्राचीन आगमग्रन्थ है 'अन्य लिंगसिद्ध' का उल्लेख प्राप्त होता हैं -

इत्थी पुरिससिद्धा य तहेव य नपुंसगा।
सलिंगे अन्नलिंगे य गिहिलिंगे तहेव य ॥[14]

'अन्यलिंग' शब्द का तात्पर्य जैनेतर धर्म और सम्प्रदाय के लोगों से है। जैनधर्म के अनुसार मुक्ति का आधार न तो कोई धर्म सम्प्रदाय है और न कोई विशेष वेश-भूषा ही। आचार्य रत्नशेखरसूरि सम्बोधसत्तरी में स्पष्ट रूप से कहते हैं कि-

सेयंबरो य आसंबरो य बुद्धो य अहव अन्नो वा।
समभावभाविअप्पा लहेय मुक्खं न संदेहो ॥[15]

अर्थात् जो भी समभाव की साधना करेगा वह निश्चित ही मोक्ष को प्राप्त करेगा फिर चाहे वह श्वेताम्बर हो या दिगम्बर हो, बौद्ध हो या अन्य किसी धर्म को मानने वाला हो। इसी बात का अधिक स्पष्ट प्रतिपादन आचार्य हरिभद्र के ग्रन्थ उपदेशतरंगिणी में भी है। वे लिखते हैं कि -

नासाम्बरत्वे न सिताम्बरत्वे, न तर्कवादे न च तत्त्ववादे।
न पक्षसेवाश्रयेण मुक्ति, कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव ॥[16]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् मुक्ति न हो तो सफेद वस्त्र पहनने से होती है न दिगम्बर रहने से; तार्किक वाद-विवाद और तत्त्वचर्चा से भी मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। किसी एक सिद्धान्त विशेष में आस्था रखने या किसी व्यक्ति विशेष की सेवा करने से भी मुक्ति असम्भव है। मुक्ति तो वस्तुत: कषायों अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ से मुक्त होने में है। एक दिगम्बर आचार्य ने भी स्पष्ट रूप से कहा है कि-

संघो को वि न तारइ, कट्ठो मूलो तहेव णिप्पिच्छो।
अप्पा तारइ अप्पा तम्हा अप्पा व झाएहि ।।

अर्थात् कोई भी संघ अर्थात् सम्प्रदाय हमें संसार-समुद्र ये पार नहीं करा सकता चाहे वह मूलसंघ हो, काष्ठासंघ हो या निश्पिच्छिकसंघ हो। वस्तुत: जो आत्मबोध को प्राप्त करता है वही मुक्ति को प्राप्त करता है। मुक्ति तो अपनी विषय-वासनाओं से, अपने अहंकार और अमर्ष से तथा राग-द्वेष के तत्त्वों से ऊपर उठने पर प्राप्त होती है। अत: हम कह सकते हैं कि जैनों के अनुसार मुक्ति पर न तो व्यक्ति विशेष का अधिकार है और न तो किसी धर्म विशेष का अधिकार है। मुक्त पुरूष चाहे वह किसी धर्म या सम्प्रदाय का रहा हो सभी के लिए वन्दनीय और पूज्य होता है। आचार्य हरिभद्र लोकतत्त्व निर्णय में कहते हैं-

यस्य निखिलाश्च दोषा न, सन्ति सर्वे गुणाश्च विद्यन्ते।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो, जिनो वा नमस्तस्मै ।।[17]

अर्थात् जिसके सभी दोष विनष्ट हो चुके हैं और जिसमें सभी गुण विद्यमान हैं, वह फिर ब्रह्मा हो, महादेव हो, विष्णु हो या फिर जिन- हम उसे प्रणाम करते हैं। इसी बात को आचार्य हेमचन्द्र महादेवस्तोत्र में लिखते हैं -

भव-बीजांकुरजनना रागाद्या क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ।।[18]

अर्थात् संसार-परिभ्रमण के कारणभूत राग-द्वेष के तत्त्व जिनके क्षीण हो चुके हैं उसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हमारा प्रणाम है। वह चाहे ब्रह्मा हो, विष्णु हो, महादेव हो या जिन।

वस्तुतः हम अपने-अपने आराध्य के नामों को लेकर विवाद करते रहते हैं। उसकी विशेषताओं को अपनी दृष्टि से ओझल कर देते हैं। सभी धर्म और दर्शनों में परम तत्त्व या परम सत्ता को राग-द्वेष, तृष्णा और आसक्ति से रहित, विषय वासनाओं से ऊपर उठी हुई पूर्णप्रज्ञ तथा परम कारूणिक माना गया है। हमारी दृष्टि उस परम तत्त्व के इस मूलभूत स्वरूप पर न होकर नामों पर टिकी होती है और इसी के आधार पर हम विवाद करते हैं। जबकि यह नामों का भेद अपने आप में कोई अर्थ नहीं रखता है। आचार्य हरिभद्र कहते हैं कि -

सदाशिवः परं ब्रह्मा सिद्धात्मा तथतेति च।
शब्दैस्तद् उच्यतेऽन्वर्थाद् एकं एवमादिभिः ।।[19]

अर्थात् यह एक ही तत्त्व है चाहे उसे सदाशिव कहें, परब्रह्म कहें, सिद्धात्मा कहें या तथागत कहें। नामों को लेकर जो विवाद किया जाता है उसकी निस्सारता को स्पष्ट करने के लिए एक सुन्दर उदाहरण दिया जाता हैं। एक बार भिन्न भाषा-भाषी लोग किसी नगर की धर्मशाला में एकत्रित हो गये। वे एक ही वस्तु के अलग-अलग नामों को लेकर परस्पर विवाद करने लगे। संयोग से उसी समय उस वस्तु का विक्रेता उसे लेकर वहाँ आया। सब उसे खरीदने के लिए टूट पड़े और अपने विवाद की निस्सारता को समझने लगे। धर्म के क्षेत्र में भी हमारी यही स्थिति है। हम सभी अज्ञान, तृष्णा, आसक्ति या राग-द्वेष के तत्त्वों से ऊपर उठना चाहते हैं किन्तु आराध्य के नाम या आराधना-विधि को लेकर व्यर्थ में विवाद करते हैं और इस प्रकार परम आध्यात्मिक अनुभूति से वंचित रहते हैं। वस्तुतः यह नामों का विवाद तभी तक रहता है जब तक कि हम उस आध्यात्मिक अनुभुति के रस का रसास्वादन नहीं करते हैं। व्यक्ति जैसे ही वीतराग, वीततृष्णा या अनासक्त की भूमिका का स्पर्श करता है उसके सामने ये सारे नामों के विवाद निरर्थक हो जाते हैं। सत्रहवीं शताब्दी के आध्यात्मिक साधक आनन्दघन कहते हैं-

राम कहो रहिमान कहो कोउ काण्ह कहो महादेव री।
पारसनाथ कहो कोउ ब्रह्मा सकल ब्रह्म स्वयमेव री।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भाजन भेद कहावत नाना एक मृतिका का रूप री।
तापे खंड कल्पनारोपित आप अखंड सरूप री॥

राम-रहीम, कृष्ण-करीम, महादेव और पार्श्वनाथ सभी एक ही सत्य के विभिन्न रूप हैं जैसे एक ही मिट्टी से बने विभिन्न पात्र अलग-अलग नामों से पुकारे जाते हैं, किन्तु उनकी मिट्टी मूलत: एक ही है। वस्तुत: आराध्य के नामों की यह भिन्नता वास्तविक भिन्नता नहीं है। यह भाषागत भिन्नता है, स्वरूपगत भिन्नता नहीं है। अत: इस आधार पर विवाद और संघर्ष निरर्थक है और वे विवाद करने वाले लोगों की अल्पबुद्धि के ही परिचायक हैं।

धार्मिक संघर्ष का नियंत्रकतत्व– प्रज्ञा

धर्म के क्षेत्र में अनुदार और असहिष्णुता के कारणों में एक कारण यह भी है कि धार्मिक जीवन में बुद्धि या विवेक के तत्त्वों को नकार कर श्रद्धा को ही एकमात्र आधार मान लेते हैं। यह ठीक है कि धर्म श्रद्धा पर टिका हुआ है। धार्मिक जीवन के आधार हमारे विश्वास और आस्थाएँ हैं लेकिन हमें यह ध्यान रखना होगा कि यदि हमारे ये विश्वास और आस्थाएँ विवेक बुद्धि को नकार कर चलेंगे, तो वे अंधविश्वासों में परिणित हो जायेंगे और ये अंधविश्वास ही धार्मिक संघर्षो के मूल कारण हैं। धर्मिक जीवन में विवेक बुद्धि या प्रज्ञा को श्रद्धा का प्रहरी बनाया जाना चाहिए। अन्यथा हम अंध-श्रद्धा से कभी भी मुक्त नहीं हो सकेंगे। आज का युग विज्ञान और तर्क का युग है फिर भी हमारा अधिकांश जन समाज, जो अशिक्षित है, वह श्रद्धा के बल पर जीता है हमें यह स्मरण रखना होगा कि श्रद्धा यदि विवेक प्रधान नहीं होती तो वह सर्वाधिक घातक होती है। इसलिए जैन आचार्यो ने अपने मोक्षमार्ग की विवेचना में सम्यक्-दर्शन के साथ-साथ सम्यक्ज्ञान को भी आवश्यक माना हैं। जैन परम्परा में भी जब, आचार के बाह्य विधिनिषेधों को लेकर पार्श्वनाथ और महावीर की संघव्यवस्था में जो मतभेद थे, उन्हें सुलझाने का प्रयत्न किया गया, तब उसके लिए श्रद्धा के स्थान पर प्रज्ञा अर्थात् विवेक-बुद्धि को ही प्रधानता दी गयी। उत्तराध्ययनसूत्र के तेईसवें अध्ययन में पार्श्वनाथ की परम्परा के तत्कालीन प्रमुख

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य केशी, महावीर के प्रधान शिष्य इन्द्रभूति गौतम से यह प्रश्न करते हैं कि एक ही लक्ष्य की सिद्धि के लिए प्रयत्नशील पार्श्वनाथ और महावीर के आचार-नियमों में यह अन्तर क्यों हैं ? इससे समाज में मतिभ्रम उत्पन्न होता है।

इन्द्रभूति गौतम ने उस समय जो कहा था, वह आज के सन्दर्भ में भी महत्वपूर्ण हैं। वे कहते हैं कि-

पन्ना समिक्खए धम्मं तत्तं तत्तविणिच्छयं ।[20]

अर्थात् धार्मिक आचार के नियमों की समीक्षा और मूल्यांकन प्रज्ञा के द्वारा करना चाहिए। इससे यह स्पष्ट हो जाता हैं कि धार्मिक जीवन में अकेली श्रद्धा ही आधारभूत नहीं मानी जानी चाहिए, उसके साथ-साथ तर्क-बुद्धि, प्रज्ञा एवं विवेक को भी स्थान मिलना चाहिए। भगवान् बुद्ध ने आलारकालाम को कहा था कि तुम किसी के वचनों को केवल इसलिए स्वीकार मत करो कि इनका कहने वाला श्रमण हमारा पूज्य हैं। हे कालमों ! जब तुम आत्मानुभव से अपने आप ही यह जान लो कि ये बातें कुशल हैं, ये निर्दोष हैं- इनके अनुसार चलने से हित होता है, सुख होता है, तभी उन्हें स्वीकार करो। एक अन्य बौद्ध ग्रन्थ तत्त्वसंग्रह में भी कहा गया है-

तापाच्छेदाच्च निकषात् सुवर्णमिव पण्डितैः ।
परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो न तु गौरवात् ।।[21]

जिस प्रकार स्वर्ण की तपाकर, छेदकर, कसकर और परीक्षा की जाती है, उसी प्रकार से धर्म की भी परीक्षा की जानी चाहिए। उसे केवल शास्ता के प्रति आदरभाव के कारण स्वीकार नहीं करना चाहिये। धार्मिक जीवन में जब तक विवेक या प्रज्ञा को विश्वास और आस्था का नियंत्रक नहीं माना जायेगा, तब तक हम मानव जाति को धार्मिक संघर्षो और धर्म के नाम पर खेली जाने वाली खून की होली से नहीं बचा सकेंगे। श्रद्धा भावना प्रधान है, भावनाओं को उभाड़ना सहज होता है। अतः धर्म के नाम पर अपने निहित स्वार्थों की सिद्धि में लगे हुए कुछ लोग अपने उन स्वार्थों की पूर्ति के लिए सामान्य जनमानस की भावनाओं को उभाड़कर उसे उन्मादी बना देते हैं तथा शास्त्र में से कोई एक वचन प्रस्तुत कर उसे इस प्रकार व्याख्यायित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करते हैं कि जिससे लोगों की भावनाएँ या धर्मोन्माद उभड़े और उन्हें अपने निहित स्वार्थों की सिद्धि का अवसर मिले। वे यह भी कहते हैं कि शास्त्र में एक शब्द का भी परिवर्तन करना या शास्त्र की अव हेलना करना बहुत बड़ा पाप है। मात्र यही नहीं वे जनसामान्य को शास्त्र के अध्ययन का अनाधिकारी मानकर अपने को ही शास्त्र का एकमात्र सच्चा व्याख्याता सिद्ध करते हैं और शास्त्र के नाम पर जनता को मूर्ख बनाकर अपना हित साधन करते रहते हैं। धर्म के नाम पर युगों-युगों से जनता का इसी प्रकार शोषण होता रहा है। अत: यह आवश्यक है कि शास्त्र की सारी बातों और उनकी व्याख्याओं को विवेक के तराजू पर तौला जाये। उनके सारे नियमों और मर्यादाओं का युगीन सन्दर्भ में मूल्यांकन और समीक्षा की जाये। जब तक यह सब नहीं होता है तब तक धार्मिक जीवन में आयी हुई संकीर्णता को मिटा पाना संभव नहीं। विवेक ही एक तत्त्व है जो हमारी दृष्टि को उदार और व्यापक बना सकता है। श्रद्धा आवश्यक है किन्तु उसे विवेक की अनुगामी होना चाहिए। विवेक युक्त श्रद्धा ही सम्यक् श्रद्धा है। वही हमें सत्य का दर्शन करा सकती है। विवेक से रहित श्रद्धा अंध-श्रद्धा होगी और हम उसके आधार पर अनेक अंधविश्वासों के शिकार बनेंगे। आज धार्मिक उदारता और सहिष्णुता के लिए श्रद्धा को विवेक से समन्वित किया जाना चाहिए। इसलिए जैनाचार्यों ने कहा था कि सम्यक् ज्ञान और सम्यक् दर्शन (श्रद्धा) में एक सामंजस्य होना चाहिए।

जैनधर्म में धार्मिक सहिष्णुता का आधार -अनेकान्तवाद

जैन आचार्यों की मान्यता है कि परमार्थ, सत् या वस्तुतत्त्व अनेक विशेषताओं और गुणों का पुंज है। उनका कहना था कि 'वस्तुतत्त्व अनन्तधर्मत्मक' है।[22] उसे अनेक दृष्टियों से जाना जा सकता है। अत: उसके सम्बन्ध में कोई निर्णय निरपेक्ष और पूर्ण नहीं हो सकता है। वस्तुतत्त्व के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान और कथन दोनों ही सापेक्ष हैं अर्थात् वे किसी सन्दर्भ या दृष्टिकोण के आधार पर ही सत्य है। आंशिक एवं सापेक्ष ज्ञान/कथन को अपने से विरोधी ज्ञान/कथन को असत्य कहकर नकारने का अधिकार नहीं है। इसे हम निम्न उदाहरण से स्पष्टतया समझ सकते हैं। कल्पना कीजिए कि अनेक व्यक्ति अपने-अपने कैमरों से विभिन्न कोणों से एक वृक्ष का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चित्र लेते हैं। ऐसी स्थिति में सर्वप्रथम तो हम यह देखेंगे कि एक ही वृक्ष के विभिन्न कोणों से विभिन्न व्यक्तियों के द्वारा हजारों हजार चित्र लिये जा सकते है। साथ ही इन हजारों हजार चित्रों के बावजूद भी वृक्ष का बहुत कुछ भाग ऐसा है जो कैमरों की पकड़ से अछूता रह गया है। पुन: जो हजारों हजार चित्र विभिन्न कोणों से लिए गये हैं, वे एक दूसरे से भिन्नता रखते हैं। यद्यपि वे सभी उसी वृक्ष के चित्र हैं। केवल उसी स्थिति में दो चित्र समान होंगे जब उनका कोण और वह स्थल जहाँ से वह चित्र लिया गया है - एक ही हो। अपूर्णता और भिन्नता दोनों ही बातें इन चित्रों में है। यही बात मानवीय ज्ञान के सम्बन्ध में भी हैं। मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियों की क्षमता और शक्ति सीमित है। वह एक अपूर्ण प्राणी है। अपूर्ण के द्वारा पूर्ण को जानने के समस्त प्रयास आंशिक सत्य के ज्ञान से आगे नहीं जा सकते हैं। हमारा ज्ञान, जब तक कि वह ऐन्द्रिकता का अतिक्रमण नहीं कर जाता, सदैव आंशिक और अपूर्ण होता है। इसी आंशिक ज्ञान को जब पूर्ण सत्य मान लिया जाता है तो विवाद और वैचारिक संघर्षों का जन्म होता है। उपर्युक्त उदाहरण में वृक्ष के सभी चित्र उसके किसी एक अंश विशेष को ही अभिव्यक्त करते हैं। वृक्ष के इन सभी अपूर्ण एवं भिन्न-भिन्न और दो विरोधी कोणों से लिये जाने के कारण-किसी सीमा तक परस्पर विरोधी - अनेक चित्रों में हम यह कहने का साहस नहीं कर सकते हैं कि यह चित्र उस वृक्ष का नहीं है अथवा यह चित्र असत्य है। इसी प्रकार हमारे आंशिक एवं दृष्टिकोणों पर आधारित सापेक्ष ज्ञान को यह अधिकार नहीं है कि वह अपने से विरोधी मन्तव्यों को असत्य कहकर नकार दें। वस्तुत: हमारी ऐन्द्रिक क्षमता, तर्क-बुद्धि, शब्दसामर्थ्य और भाषायी अभिव्यक्ति सभी अपूर्ण, सीमित और सापेक्ष है। ये सम्पूर्ण सत्य की एक साथ अभिव्यक्ति में सक्षम नहीं है। मानव बुद्धि सम्पूर्ण सत्य का नहीं, अपितु उसके एकांश का ग्रहण कर सकती है। तत्त्व या सत्ता अज्ञेय तो नहीं है किन्तु बिना पूर्णता को प्राप्त हुए उसे पूर्णरूप से जाना भी नहीं जा सकता। आइन्स्टीन ने कहा था हम सापेक्ष सत्य को जान सकते है, निरपेक्ष सत्य को तो कोई निरपेक्ष द्रष्टा ही जानेगा। जब तक हमारा ज्ञान अपूर्ण सीमित या सापेक्ष है तब तक हमें दूसरों के ज्ञान और अनुभव को चाहे वह हमारे ज्ञान का विरोधी क्यों न हो, असत्य कहकर निषेध करने का कोई अधिकार नहीं। आंशिक सत्य का ज्ञान दूसरों के द्वारा प्राप्त ज्ञान का निषेधक नहीं हो सकता है। ऐसी स्थिति में यह कहना कि मेरी दृष्टि ही सत्य है, सत्य मेरे ही पास है-दार्शनिक दृष्टि से एक भ्रान्त धारणा ही है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यद्यपि जैनों के अनुसार सर्वज्ञ या पूर्ण-पुरूष संपूर्ण सत्य का साक्षात्कार कर लेता है, फिर भी उसका ज्ञान और कथन उसी प्रकार निरपेक्ष-अपेक्षा से रहित नहीं हो सकता है, जिस प्रकार बिना किसी कोण के किसी भी वस्तु का कोई भी चित्र नहीं लिया जा सकता है। पूर्ण सत्य का बोध चाहे संभव हो किन्तु उसे न तो निरपेक्ष रूप से जाना जा सकता है और न कहा ही जा सकता है। उसकी अभिव्यक्ति का जब भी कोई प्रयास किया जाता है, वह आंशिक और सापेक्ष बनकर ही रह जाता हैं। पूर्ण पुरूष को भी हमें समझाने के लिए हमारी उसी भाषा का सहारा लेना पड़ता है जो सीमित, सापेक्ष और अपूर्ण है। 'है' और 'नहीं है' की सीमा से घिरी हुई भाषा पूर्ण सत्य का प्रकटन कैसे करेगी। इसीलिए जैन परम्परा में कहा गया था कि कोई भी वचन (जिनवचन भी) नय (दृष्टिकोण विशेष) से रहित नहीं होता है अर्थात् सर्वज्ञ के कथन भी सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं।[23] जैन परम्परा के अनुसार जब सापेक्ष सत्य को निरपेक्ष रूप से दूसरे सत्यों का निषेधक मान लिया जाता है तो वह असत्य बन जाता है और इसे ही जैनों की परम्परागत शब्दावली में मिथ्यात्व कहा गया है। जिस प्रकार अलग-अलग कोणों से लिये गये चित्र परस्पर भिन्न-भिन्न और विरोधी होकर भी एक साथ यथार्थ के परिचायक होते हैं उसी प्रकार अलग-अलग संदर्भों में कहे गये भिन्न-भिन्न विचार परस्पर विरोधी होते हुए भी सत्य हो सकते हैं। सत्य केवल उतना नहीं है, जितना हम जानते हैं। अत: हमें अपने विरोधियों के सत्य का निषेध करने का अधिकार भी नहीं है। वस्तुत: सत्य केवल तभी असत्य बनता है जब हम उस अपेक्षा या दृष्टिकोण को दृष्टि से ओझल कर देते हैं, जिसमें वह कहा गया है। जिस प्रकार चित्र में वस्तु की सही स्थिति को समझने के लिए उस कोण का भी ज्ञान अपेक्षित होता है, उसी प्रकार वाणी में प्रकट सत्य को समझने के लिए उस दृष्टिकोण का विचार अपेक्षित है जिसमें वह कहा गया है। समग्र कथन संदर्भ सहित होते है और उन संदर्भो से अलग हटकर उन्हें नहीं समझा जा सकता है। जो ज्ञान सन्दर्भ सहित है, वह सापेक्ष हैं और जो सापेक्ष है वह अपनी सत्यता का दावा करते हुए भी दूसरे की सत्यता का निषेधक नहीं हो सकता है। सत्य के सम्बन्ध में यही एक ऐसा दृष्टिकोण है जो विभिन्न धर्म और सम्प्रदायों को सापेक्षिक सत्यता एवं मूल्यवत्ता को स्वीकार कर उनमें परस्पर सौहार्द्र और समन्वय स्थापित कर सकता हैं। अनेकान्त की आधारभूमि पर ही यह मानना सम्भव है कि हमारे और हमारे विरोधी के विश्वास और कथन दो भिन्न-भिन्न परिपेक्ष्यों में एक साथ सत्य हो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकते हैं। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर सन्मतितर्क में कहते है-

णिययवयणिज्जसच्चा सव्वनया पर वियालणे मोहा।
ते उण ण दिट्ठसमओ विभयइ सच्चे व अलिए वा ॥[24]

अर्थात् सभी नय अर्थात् सापेक्षिक वक्तव्य अपने-अपने दृष्किोण से सत्य है। वे असत्य तभी होते हैं जब वे अपने से विरोधी दृष्टिकोणों के आधार पर किये गये कथनों का निषेध करते हैं। इसीलिए अनेकान्त दृष्टि का समर्थक या शास्त्र का ज्ञाता उन परस्पर विरोधी सापेक्षिक कथनों में ऐसा विभाजन नहीं करता है कि ये सच्चे हैं और ये झूठे हैं। किसी कथन या विश्वास की सत्यता और असत्यता उस सन्दर्भ अथवा दृष्टिकोण विशेष पर निर्भर करती है जिसमें वह कहा गया हैं। वस्तुतः यदि हमारी दृष्टि उदार और व्यापक है तो हमें परस्पर विरोधी कथनों की सापेक्षिक सत्यता को स्वीकार करना चाहिए। परिणामस्वरूप विभिन्न धर्मवादों में पारस्परिक विवाद या संघर्ष का कोई कारण शेष नहीं बचता। जिस प्रकार परस्पर झगड़ने वाले व्यक्ति किसी तटस्थ व्यक्ति के अधीन होकर मित्रता को प्राप्त कर लेते हैं उसी प्रकार परस्पर विरोधी विचार और विश्वास अनेकान्त की उदार और व्यापक दृष्टि के अधीन होकर पारस्परिक विरोध को भूल जाते हैं।[25] उपाध्याय यशोविजय जी लिखते हैं -

यस्य सर्वत्र समता नयेषु तनयेष्विव।
तस्यानेकान्तवादस्य क्व न्यूनाधिकशेमुषी ॥
तेन स्याद्वादमालंब्य सर्वदर्शनतुल्यताम्।
मोक्षोद्देशाविशेषेण यः पश्यति स शास्त्रवित् ॥
माध्यस्थ्यमेव शास्त्रार्थो येन तच्चारू सिध्यति।
स एव धर्मवादः स्यादन्यद्बालिशवल्गनम् ॥
माध्यस्थ्यसहितं ह्येकपदज्ञानमपि प्रमा।
शास्त्रकोटिर्वृथैवान्या तथा चोक्तं महात्मना ॥[26]

अर्थात् सच्चा अनेकान्तवादी किसी भी दर्शन से द्वेष नहीं करता है। वह सम्पूर्ण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दृष्टिकोणों (दर्शनों) को इस प्रकार वात्सल्य दृष्टि से देखता है जिस प्रकार कोई पिता अपने पुत्र को। एक सच्चे अनेकान्त वादी की दृष्टि न्यूनाधिक नहीं होती है। वह सभी के प्रति समभाव रखता है अर्थात् विचारधारा या धर्म-सिद्धान्त की सत्यता का विशेष परिपेक्ष्य में दर्शन करता है। आगे वे पुन: कहते हैं कि सच्चा शास्त्रज्ञ कहे जाने का अधिकारी वही है जो स्याद्वाद अर्थात् उदार दृष्टिकोण का आलम्बन लेकर सम्पूर्ण विचारधाराओं को समान भाव से देखता है। वस्तुत: माध्यस्थ भाव ही शास्त्रों का गूढ़ रहस्य है और यही सच्चा धर्मवाद है। माध्यस्थ भाव अर्थात् उदार दृष्टिकोण के रहने पर शास्त्र के एक पद का ज्ञान भी सफल है, अन्यथा करोड़ों शास्त्रों का ज्ञान भी वृथा हैं।

जैनधर्म और धार्मिक सहिष्णुता के प्रसंग

जैनाचार्यों का दृष्टिकोण प्रारम्भ से ही उदार और व्यापक रहा है। यही कारण है कि उन्होंने दूसरी विचारधाराओं और विश्वासों के लोगों का सदैव आदर किया है। इसका सबसे महत्त्वपूर्ण उदाहरण जैन परम्परा का एक प्राचीनतम ग्रन्थ है - ऋषिभाषित। ऋषिभाषित के अन्तर्गत उन पैतालीस अर्हत् ऋषियों के उपदेशों का संकलन है, जिनमें पार्श्वनाथ और महावीर को छोड़कर लगभग सभी जैनेतर परम्पराओं के हैं। नारद, भारद्वाज, नमि, रामपुत्र, शाक्यपुत्र गौतम, मंखलि गोशाल आदि अनेक धर्ममार्ग के प्रवर्तकों एवं आचार्यो के विचारों का इसमें जिस आदर के साथ संकलन किया गया है वह धार्मिक उदारता और सहिष्णुता का परिचायक है। इन सभी को अर्हत् ऋषि कहा गया है[27] और इनके वचनों को आगमवाणी के रूप में स्वीकार किया गया है। सम्भवत: प्राचीन धार्मिक साहित्य में यही एकमात्र ऐसा उदाहरण है, जहाँ विरोधी विचारधारा और विश्वासों के व्यक्तियों के वचनों को आगमवाणी के रूप में स्वीकार कर समादर के साथ प्रस्तुत किया गया हो।

जैन परम्परा की धार्मिक उदारता की परिचायक सूत्रकृतांग की पूर्वनिर्दिष्ट वह गाथा भी है, जिसमें यह कहा गया है कि जो अपने-अपने मत की प्रशंसा करते हैं और दूसरों के मतों की निन्दा करते हैं तथा उनके प्रति विद्वेषभाव रखते हैं। वे संसारचक्र में परिभ्रमित होते रहते हैं। सम्भवत: धार्मिक उदारता के लिए इससे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महत्त्वपूर्ण और कोई वचन नहीं हो सकता। यद्यपि यह सत्य है कि अनेक प्रसंगों में जैन आचार्यों ने भी दूसरी विचारधाराओं और मान्यताओं की समालोचना की है किन्तु उन सन्दर्भों में भी कुछ अपवादों को छोड़कर सामान्यतया हमें एक उदार दृष्टिकोण का परिचय मिलता है। हम सूत्रकृतांग का ही उदाहरण लें, उसमें अनेक विरोधी विचारधाराओं की समीक्षा की गयी है किन्तु शालीनता यह है कि कहीं भी किसी धर्ममार्ग या धर्मप्रवर्तक पर वैयक्तिक छींटाकशी नहीं है। ग्रन्थकार केवल उन विचारधाराओं का उल्लेख करता है, उनके मानने वालों का नामोल्लेख नहीं करता है वह केवल इतना कहता है कि कुछ लोगों की यह मान्यता है या कुछ लोग यह मानते है, जो कि संगतिपूर्ण नहीं है। इस प्रकार वैयक्तिक या नामपूर्वक समालोचना से-जो कि विवाद या संघर्ष का कारण हो सकती है- वह सदैव दूर रहता है।[28] जैनागम साहित्य में हम ऐसे अनेक सन्दर्भ भी पाते हैं, जहां अपने से विरोधी विचारों और विश्वासों के लोगों के प्रति समादर दिखाया गया है। सर्वप्रथम आचारांग में जैन मुनि को यह स्पष्ट निर्देश दिया गया है कि वह अपनी भिक्षावृत्ति के लिए इस प्रकार जाये कि जिससे अन्य परम्पराओं के श्रमणों, परिव्राजकों और भिक्षुओं को भिक्षा प्राप्त करने में कोई बाधा न हो। यदि वह देखे कि अन्य परम्परा के श्रमण या भिक्षु किसी गृहस्थ उपासक के द्वार पर उपस्थित हैं तो वह या तो भिक्षा के लिए आगे प्रस्थान कर जाये या फिर सबके पीछे इस प्रकार खड़ा रहे कि भिक्षाप्राप्ति में कोई बाधा न हो। मात्र यही नहीं यदि गृहस्थ उपासक उसे और अन्य परम्पराओं के भिक्षुओं के सम्मिलित उपभोग के लिए जैन भिक्षु को यह कह कर भिक्षा दे कि आप सब मिलकर खा लेना तो ऐसी स्थिति में जैन भिक्षु का यह दायित्व है कि वह समानरूप से भिक्षा को सभी में वितरित करे। वह न तो भिक्षा में प्राप्त अच्छी सामग्री को अपने लिए रखे न भिक्षा का अधिक अंश ही ग्रहण करे।[29]

भगवती सूत्र के अन्दर हम यह देखते हैं कि भगवान् महावीर के ज्येष्ठ अन्तेवासी गणधर इन्द्रभूति गौतम को मिलने के लिए उनका पूर्वपरिचित मित्र स्कन्दक, जो कि अन्य परम्परा के परिव्राजक के रूप में दीक्षित हो गया था, आता है तो महावीर स्वयं गौतम को उसके सम्मान और स्वागत का आदेश देते हैं। गौतम आगे बढ़कर अपने मित्र का स्वागत करते हैं और कहते है- हे स्कन्दक ! तुम्हारा स्वागत है, सुस्वागत है।[30] अन्य परम्परा के श्रमणों और परिव्राजकों के प्रति इस प्रकार का सम्मान एवं आदरभाव निश्चित ही धार्मिक सहिष्णुता और पारस्परिक सद्भाव में वृद्धि करता ह।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तराध्ययनसूत्र में हम देखते हैं कि भगवान् पार्श्वपाथ की परम्परा के तत्कालीन प्रमुख आचार्य श्रमणकेशी और भगवान् महावीर के प्रधान गणधर इन्द्रभूति गौतम जब संयोग से एक ही समय श्रावस्ती में उपस्थित होते हैं तो वे दोनों परम्पराओं के पारस्परिक मतभेदों को दूर करने के लिए परस्पर सौहार्द्रपूर्ण वातावरण में मिलते हैं। एक ओर ज्येष्ठकुल का विचार कर गौतम स्वयं श्रमणकेशी के पास जाते हैं तो दूसरी ओर श्रमणकेशी उन्हें श्रमणपर्याय में ज्येष्ठ मानकर पूरा समादर प्रदान करते हैं। जिस सौहार्दपूर्ण वातावरण में वह चर्चा चलती है और पारस्परिक मतभेदों का निराकरण किया जाता है वह सब धार्मिक सहिष्णुता और उदार दृष्टिकोण का एक अद्‌भुत उदाहरण है।[31]

दूसरी धर्म परम्पराओं और सम्प्रदायों के प्रति ऐसा ही उदार और समादर का भाव हमें आचार्य हरिभद्र के ग्रंथों में भी देखने को मिलता है। हरिभद्र संयोग से उस युग में उत्पन्न हुए जब पारस्परिक आलोचना-प्रत्यालोचना अपनी चरम सीमा पर थी। फिर भी हरिभद्र न केवल अपनी समालोचनाओं में संयत रहे अपितु उन्होंने सदैव ही अन्य परम्पराओं के आचार्यो के प्रति आदरभाव प्रस्तुत किया। शास्त्रवार्तासमुच्चय उनकी इस उदारवृत्ति और सहिष्णुदृष्टि की परिचायक एक महत्त्वपूर्ण कृति है। बौद्ध दर्शन की दार्शनिक मान्यताओं की समीक्षा करने के उपरान्त वे कहते हैं कि बुद्ध ने जिन क्षणिकवाद, अनात्मवाद और शून्यवाद के सिद्धान्तों का उपदेश दिया, वह वस्तुतः ममत्व के विनाश और तृष्णा के उच्छेद के लिए आवश्यक ही था। वे भगवान् बुद्ध को अर्हत्, महामुनि और सुवैद्य की उपमा देते हैं और कहते हैं कि जिस प्रकार एक अच्छा वैद्य रोगी के रोग और प्रकृति को ध्यान में रखकर एक ही रोग के लिए भिन्न-भिन्न औषधि प्रदान करता है, उसी प्रकार भगवान् बुद्ध ने अपने अनुयायियों के विभिन्न स्तरों को ध्यान में रखते हुए इन विभिन्न सिद्धान्तों का उपदेश दिया है। ऐसा ही उदार दृष्टिकोण वे सांख्य दर्शन के प्रस्तोता महामुनि कपिल और न्यायदर्शन के प्रतिपादकों के प्रति भी व्यक्त करते हैं। कपिल के लिए भी वे महामुनि शब्द का प्रयोग कर अपना आदर भाव प्रकट करते है।[32] विभिन्न विरोधी दार्शनिक विचारधाराओं में किस प्रकार संगति स्थापित की जा सकती है इसका एक अच्छा उदाहरण उनका यह ग्रन्थ है।

12वीं शताब्दी के प्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचन्द्र ने भी इसी प्रकार धार्मिक सहिष्णुता और उदारवृत्ति का परिचय दिया है। उन्होंने न केवल भगवान् शिव की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्तुति में महादेवस्तोत्र की रचना की, अपितु शिवमंदिर में जाकर शिव की वन्दना करते हुए कहा- जिसने संसार परिभ्रमण के कारण भूत राग-द्वेष के तत्त्वों को क्षीण कर दिया है, उसे मैं प्रणाम करता हूँ। चाहे वह ब्रह्मा हो, विष्णु हो, शिव हो या जिन। जैनों की इस धार्मिक उदारता का एक प्रमाण यह भी है कि महाराजा कुमारपाल और विष्णुवर्धन ने जैन होकर भी शिव और विष्णु के अनेक मंदिरों का निर्माण करवाया और उनकी व्यवस्था के लिए भूमिदान किया। कुमारपाल के धर्मगुरू आचार्य हेमचन्द्र ने न केवल उसकी इस उदारवृत्ति को प्रोत्साहित किया अपितु शिवमंदिर में स्वयं उपस्थित होकर अपनी उदारवृत्ति का परिचय भी दिया। हेमचन्द्र के समान इस उदार परम्परा का निर्वाह अन्य जैनाचार्यों ने भी किया था, जिसके अभिलेखीय प्रमाण भी आज उपलब्ध होते हैं। दिगम्बर जैनाचार्य रामकीर्ति ने तोकलजी के मंदिर के लिए और श्वेताम्बर आचार्य जयमंगलसूरि ने चामुण्डा के मन्दिर के लिए प्रशस्ति-काव्य लिखे। उपाध्याय यशोविजय की धार्मिक सहिष्णुता का उल्लेख हम पूर्व में कर ही चुके हैं। उनका यह कहना कि- माध्यस्थ या सहिष्णु भाव ही धर्मवाद है- धार्मिक सहिष्णुता का मुद्रालेख है। इसी प्रकार जैन रहस्यवादी सन्तकवि आनन्दघन भी कहते हैं -

षडदर्शन जिन अंगभणीजे न्यायषडंग जे साधे रे।
नमिजिनवरना चरण उपासक षड्दर्शन आरधे रे॥

अर्थात् सभी दर्शन जिस के अंग हैं और उपासक सभी दर्शनों की उपासना करता है। जैनों की यह उदार और सहिष्णुवृत्ति वर्तमान युग तक यथार्थतः जीवित है। आज भी जैनों की सर्वप्रिय प्रार्थना का प्रारम्भ इसी उदार भाव के साथ होता है -

जिसने रागद्वेष कामादिक जीते, सब जग जान लिया।
सब जीवों को मोक्ष मार्ग का,निस्पृह हो उपदेश दिया।
बुद्ध वीर जिन हरि हर ब्रह्मा, या उसको स्वाधीन कहो।
भक्तिभाव से प्रेरित हो, यह चित्त उसी में लीन रहो।

वस्तुतः यदि हम विश्व में शान्ति की स्थापना चाहते हैं, यदि हम चाहते हैं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कि मनुष्य-मनुष्य क बीच घृणा और विद्वेष की भावनाएँ समाप्त हों और सभी एक दूसरे के विकास में सहयोगी बनें, तो हमें आचार्य अमितगति के निम्न चार सूत्रों को अपने जीवन में अपनाना होगा। वे कहते हैं-

सत्त्वेषु मैत्री गुणीषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वं।
माध्यस्थ भावं विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव ॥

हे प्रभु प्राणीमात्र के प्रति मैत्री भाव, गुणीजनों के प्रति समादर भाव, दुःख एवं पीड़ित जनों के प्रति कृपा भाव तथा विरोधियों के प्रति माध्यस्थ भाव- समता भाव मेरी आत्मा में सदैव रहे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खण्ड–खण्ड होती मानवता

–डॉ. सागरमल जैन

स्वार्थवादिता के चोगे में,
मानव की मानवता कहीं खो गई है।
तभी तो वह युगों से
अपने आपको खण्ड–खण्ड में
विभाजित करता रहा है।
पहले अपने को देश और प्रदेश की
सीमाओं से बाँटा,
फिर प्रजातियों का भेद दिखाकर,
काले और गोरे के रंगभेद पर,
आर्य और अनार्य में बाँटा।
एक ने अपनी सभ्यता का दावा कर
दूसरे को असभ्य और असंस्कृत बताया।
फिर हमने ही वर्ण–व्यवस्था के नाम पर
उसे एक को दूसरे से काटा।
ब्राह्मण श्रेष्ठ और शूद्र नेष्ट कहकर
मानवता के मुख पर मारा–चाँटा।
फिर वर्णसंकरता ने अपना रूप दिखाया।
जातियों के नाम पर यह भेद और गहराया
जातियों के आधार पर धन्धे भी बँट गये,
कुशलता और योग्यता के मापदण्ड नकार
दिये गये।
वर्ण और धन्धे जो कर्मणा थे,
वंशानुगतता के स्वार्थवश
सभी जन्मना मान लिये।
स्वार्थवादिता या भाई भतीजावाद के
इस चक्र में,
वर्णवाद और जातिवाद
पुष्ट होता चला गया,
मानवता खण्डित हो
सिसकियाँ ही भरती रही।
आज भी तो यही हो रहा है,
स्वार्थवादिता और
वोट बैंक की राजनीति में,
जातिवाद पुष्ट हो रहा है
कहीं धर्मवाद है
तो कहीं राष्ट्रवाद है
किन्तु ये सब,
मानवता को मृत करने
की साजिश मात्र हैं।
यदि स्वार्थवाद के चोगे में
यही सब होता रहा,
तो मानव की मानवता
मरती रहेगी, और
यदि मानवता मर गई
तो फिर मानव भी नहीं बचेगा।
स्वार्थवादिता का यह शैतान
मानव को मार कर ही,
दम लेगा।
लेकिन यदि मानवता जी गई
तो वह स्वार्थवादिता के शैतान को
मार कर ही दम लेगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. आया णे अज्जो सामाइए, आयाणे अज्जो सामाइयस्स अट्ठे- भगवती, 1/9
2. समियाए धम्मे आरिएहिं पवेइए- आचारांग, 1/8/3.
3. धर्म जीवन जीने की कला-पृ. 7 एवं 8
4. योगदृष्टिसमुच्चय, 138
5. आचारांग, 1/4/2.
6. योगदृष्टिसमुच्चय, 13/4
7. णाणाजीवा णाणा कम्मं णाणाविहं हवे लद्धि।
   तम्हा वयण विवादं सगपरसमएहिं वज्जिजा ॥-नियमसार, 155
8. एवाइं मिच्छदिट्ठिस्स मिच्छत परिगहियाइं मिच्छासुयं एयाणि चेव सम्मदिट्ठिस्स सम्मत्तपरिगहियाइं सम्मसुयं मिच्छदिट्ठिस्सअहवा वि सम्मसुयं कम्हा ? सम्मत्त हेउत्तनओ जम्हा ते मिच्छदिट्ठिया तेहिं चेव समएहिं चोइया समणा केइ सपक्खदिट्ठिओ चयंति से तं मिच्छासुयं। नन्दीसूत्र 72
9. (अ) भगवती-अभयदेवकृत वृत्ति, 14/7 पृ. 1188
   (ब) मुक्खमग्ग पवन्नानं सिनेहो वज्जसिंखला।
   वीरे जीवन्तए जाओ गोयम जं न केवलि ॥
   -उद्धृत कल्पसूत्र टीका विनयविजय, पृ. 120
10. सम्मत्तं चेव मिच्छत्तं, समामिच्छत्तमेव य।
    एयाओ तिन्निपयडीओ मोहणिज्जस्स दंसणे ॥
    -उत्तराध्ययन 33/9
11. उत्तराध्ययन, 25/31-32
12. सूत्रकृतांग, 1/1/2/23
13. सन्मतितर्कप्रकरण, 3/69
14. उत्तराध्ययनसूत्र, 36/49
15. सम्बोधसत्तरी, 2
16. उपदेशतरङ्गिणी, 1/8

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

17. ..तत्त्वनिर्णय, 140
18. महादेवस्त्रोत, 44
19. योगदृष्टिसम्मुच्चय, 130
20. उत्तराध्ययनसूत्र, 23/25
21. तत्त्वसंग्रह, 3588
22. अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्वम्, 22-अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका, हेमचंद्र
23. नत्थि नयहिंविहूणं सुत्तं अत्थो य जिणवये किंचि-आवश्यक निर्युक्ति, 544
24. सन्मतितर्क, 1/28
25. सव्वे समयंति सम्मं चेगवसाओ नया विरूद्धा वि।
मिच्च ववहारिणो इव, राआदासीण वसवत्ती ॥ -विशेषा. भाष्य, 2267
26. अध्यात्मोपनिषद्-यशोविजय 61, 70, 71, 73.
27. अरहता इसिणा बुइयं- इसिभासियाइं 1.
28. एवमेगे उ पासत्था ते भुज्जो विप्पगब्भिया।
एवं उवट्ठिता संता ण ते दुक्खविमोक्खया ॥
-सूत्रकृतांग, 1/2/31-32
29. आचारांग, 2/1/5/29
30. हे खंदया ! सागयं, खंदया ! सुसागयं-भगवती, 2/1
31. उत्तराध्ययन अध्याय 23
32. देखें- शास्त्रवार्तासमुच्चय, 3/206, 3/237, 6/64-67

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

डॉ. सागरमल जैन

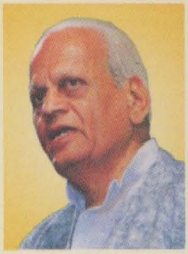

जन्म तिथि	:	दि. 22.02.1932
जन्म स्थान	:	शाजापुर (म.प्र.)
शिक्षा	:	साहित्यरत्न : 1954 एम.ए. (दर्शन शास्त्र) : 1963 पी–एच. डी. : 1969
अकादमिक उपलब्धियाँ	:	प्रवक्ता म.प्र. शास. शिक्षा सेवा (1964–67), सहायक प्राध्यापक (1968–85), प्राध्यापक (प्रोफेसर) (1985–89), निदेशक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी (1979–97)
लेखन	:	30 पुस्तकें, 25 लघु पुस्तिकाएँ
सम्पादन	:	150 पुस्तकें
सम्पादक	:	जैन विद्या विश्वकोष (पार्श्वनाथ विद्यापीठ की महत्वाकांक्षी परियोजना) 'श्रमण' त्रैमासिक शोध पत्रिका
पुरस्कार	:	प्रदीपकुमार रामपुरिया पुरस्कार (1986,1998), स्वामी प्रणवानन्द पुरस्कार (1987), डिप्टीमल पुरस्कार (1992), आचार्य हस्तीमल स्मृति सम्मान (1994), विद्यावारिधि सम्मान (2003), कलां मर्मज्ञ सम्मान (2006), जैन प्रेसीडेन्शियल अवार्ड (यू.एस.ए. 2007), गौतमगणधर पुरस्कार (2008), आचार्य तुलसी प्राकृत पुरस्कार (2009).
सदस्यः अकादमिक समितिः		विद्वत् परिषद, भोपाल विश्वविद्यालय, भोपाल जैन विश्वभारती संस्थान लाडनूं मानद निदेशक, आगम, अहिंसा, समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर।
सम्प्रति		संस्थापक एवं निदेशक प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.)
विदेश भ्रमण		शिकागो, राले, ह्यूस्टन, न्यूजर्सी, उत्तरी करोलीना, वाशिंगटन, सेनफांसिस्को, लॉस एंजिल्स, फिनीक्स, सेंट लूईस, पिट्सबर्ग, टोरण्टो, न्यूयार्क, कनाडा और लंदन यू. के.।

प्राच्य विद्यापीठ : एक परिचय

डॉ. सागरमल जैन पारमार्थिक शिक्षण न्यास द्वारा सन् 1997 से संचालित प्राच्य विद्या पीठ, शाजापुर आगरा–मुम्बई राष्ट्रीय राजमार्ग पर स्थित इस संस्थान का मुख्य उदेश्य भारतीय प्राच्य विद्याओं के उच्च स्तरीय अध्ययन, प्रशिक्षण एवं शोधकार्य के साथ–साथ भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों को पुनः प्रतिष्ठित करना है।

इस विद्यापीठ में जैन, बौद्ध और हिन्दु धर्म आदि के लगभग 12,000 दुर्लभ ग्रन्थ उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त 700 हस्तलिखित पाण्डुलिपियाँ भी है। यहाँ 40 पत्र पत्रिकाएँ भी नियमित आती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Print : Akrati Offset, Ujjain Ph. 0734-2561720, 96300-77780, 98930-77783